

एनजीओकरण की चुनौतियाँ और संगतिन के
सपने

इस काम से जुड़कर हमने अपने दिल की हर डिब्बी खोल दी है। आज तक हम अपनी माँ से भी जो नहीं कह पाये, वह सब हमने इस समूह के सामने कह डाला। अब तो अल्लाह से हमारी यही दुआ है:

या इलाही इतना करम कर दे
इस काम को ईमान से ऊँचा कर दे।
— चाँदनी की डायरी से

काम की शुरुआत में मैंने देखा कि दीदी भी हम लोगों के साथ दरी पर बैठती हैं। मन में यह आया कि यह कैसी अधिकारी हैं? हर जगह तो अधिकारी के लिए एक अलग कुर्सी होती है, पर यहाँ ऐसा नहीं। इस कार्यक्रम में पद अलग-अलग होने पर भी सभी को बराबर मान-सम्मान मिलता है...परन्तु एक दिन मैं दूसरी तरह सोचने को मजबूर हुई। मैं अनजाने में दीदी की कुर्सी पर बैठ कर लिख रही थी, तब किसी ने मना किया। मैं डर गयी। सोचने लगी अब क्या होगा? दीदी डाँटेंगी। पर ऐसी कोई बात तो नहीं हुई! हाँ, उस दिन यह अहसास ज़रूर हो गया कि दीदी की एक खास जगह है जो हमारी इस ढाँचे में कभी नहीं हो सकती। ...इस कार्यक्रम में ऊपर से नीचे तक के ढाँचे में सबके अलग-अलग पद हैं। हम जब गाँव में महिलाओं के बीच होते हैं, तब हम भी पद के अनुसार ही दिखने लगते हैं।

— राधा की डायरी से

उस घटना को बीते कुल जमा छः साल ही तो हुए हैं। तब हम लोग पहली बार अपनी-अपनी साइकिलों पर मिश्रिख के मोहल्लों-टोलों में डोले थे। हमने कभी कल्पना भी नहीं की थी कि जिन घरों से बाहर निकलने तक पर इतनी पाबन्दियाँ लगायी जाती थीं, जहाँ हमारे काम को इतनी हेय और सवालिया नज़रों से देखा जाता था, उन्हीं घरों की चौहदियों के भीतर विद्रोह करके एक दिन इतने आत्मविश्वास के साथ हम साइकिलों पर सवार होकर गाँव-गाँव पहुँचेंगे!

इसी तरह जब इस किताब की तैयारी करनी शुरू की, तो बार-बार एक रोमांच हो आता मन में। क्या सचमुच दुनिया हमें लेखिकाओं के रूप में देख पायेगी? हमें वह जगह और वह मान-सम्मान दे

सकेगी, जो उच्च वर्ग के विद्वानों तथा चिन्तकों को देती आयी है? हमने जिस हिम्मत और यकीन के साथ अपने अजीज और अन्तरंग लम्हे, अपने सबसे गहरे दुख-दर्द और जिल्लतों की यादें, अपने सबसे मीठे और कड़वे-अनुभव इन पन्नों पर उड़ेल दिये हैं; क्या इन्हें पढ़ने वाले उनकी कद्र कर पायेंगे?

एक और मुद्दा, जो इस पूरे दौर में हमारे मन को सालता रहा, वह ईमानदारी, गोपनीयता और पारदर्शिता को लेकर था। वही मुद्दा, जिससे हमने डायरी-लेखन शुरू करने के पहले खूब जद्दोजहद की थी और यह फैसला किया था कि अपने व्यक्तिगत-जीवन का कुछ भी अपने लेखन में ढकेंगे नहीं। हम सब इस सच से भली-भाँति परिचित थे कि चर्चाओं व बैठकों में इज्जत-आबरू की परिभाषाओं को तोड़ने-मरोड़ने का काम दूसरों के उदाहरण देकर करना जितना आसान होता है, उतना खुद अपने घर-परिवार पर लागू करना नहीं। फिर भी हमने निडर होकर अपनी डायरियों में सारी निजी बातें उघाड़ कर सामने रख दीं, क्योंकि हमें लगा कि यदि ढँकते ही रहे तो संघर्ष आगे कैसे बढ़ेगा! पर मन रह-रह कर यह भी पूछता है कि पाठक हमारे निजी जीवन और अन्तरंग सम्बन्धों से लेकर हमारी ग़रीबी और जातिगत टकरावों तक के बारे में जितने रस या आदर से पढ़ेंगे, क्या वह उसी रस और आदर के साथ स्वैच्छिक संगठनों के विषय में हमारी विवेचना और आलोचना को स्वीकार कर सकेंगे? पर इस सन्दर्भ में भी हौसला हमें इसी विचार से मिला कि इस मुक़ाम तक आने पर भी यदि सब कुछ कहने की हिम्मत न जुटा सके, तो आगे की जंग कैसे लड़ेंगे?

हम पहले-पहल जब इस काम से जुड़े थे, उस समय हमारे दिमाग में नौकरी करके अपने पाँवों पर खड़ा होने का जुनून हावी था, बस! फिर वह पल आते भी देर नहीं लगी, जब यह नौकरी हमारे लिये महज़ कमायी का साधन न रह कर हमारा कुल ईमान और हमारी जिन्दगी की धड़कन बन गयी। जैसे-जैसे अपने कार्यक्षेत्र में महिलाओं की समस्याओं और संघर्षों से हमारा साक्षात्कार होता गया, और हम उनसे गहराई से जुड़ते गये, वैसे-वैसे हमारी अपनी ही नज़र को विस्तार मिलता गया।

एक समय वह था, जब हमारी पूरी दुनिया अपने ही घरों में कैद थी। पर हमारी नई नज़र ने हमारी दुनिया बदल डाली। घरों से बाहर निकलकर हमने अपनी बात मज़बूती और आत्मविश्वास के साथ कहनी शुरू की। साथ की औरतों के भीतर भी वैसी ही मज़बूती पाने का हौसला बढ़ाया। पर धक्का हमें तब लगा, जब अपने संस्थागत ढाँचे में पैठी पद और वर्ग की असमानताओं को हमने करीब से पहचानना शुरू किया—कभी खुद को लेकर, कभी गाँव की आम महिलाओं को लेकर, और कभी एनजीओ के मायाजाल में फँसी छोटी-बड़ी संस्थाओं को लेकर...। ये असमानताएँ कभी-कभी तो हमें इतनी उलझनों और कड़वाहटों से भर देती हैं कि हम अपने आगे के रास्ते अपने बूते और अपनी शर्तों पर तय कर पाने का आत्मविश्वास ही खो बैठते हैं। परन्तु इस सामूहिक-प्रयास के माध्यम से हमने पहली बार स्तरीकरण और एनजीओकरण से जुड़े इन द्वन्द्वों व उलझनों को सिलसिलेवार ढंग से देखने और समझने की कोशिश की, ताकि इस प्रक्रिया से हम अपने आगे के काम के लिये सोच और दृष्टि बना सकें। इस सामूहिक-सफ़र में हमारी टोली ने आज तक इन कठिन सवालों से जो भी कशमकश की है, हम उनके कुछ अंश अपनी पुस्तक के इस अन्तिम-अध्याय में लिपिबद्ध कर रहे हैं।

पद, स्तरीकरण, और वर्गवाद की उलझनें

आज हमारे साक्षरता केन्द्र की एक पढ़ी-लिखी, शहरी-टीचर सुबह नौ बजे मेरे घर पहुँची। मैं तो घर पर उसी तरह थी जैसे सभी महिलाएँ रहती हैं। टीचर बोली; "आपको देखकर कौन कहेगा कि आप कार्यकर्ता हैं? आप घर में भी वैसे ही क्यों नहीं रहतीं जैसे काम के दौरान?"

मैंने कहा, "अपने परिवार और आसपास की स्थिति को कैसे भूल सकती हूँ?"

— राधा की डायरी से

मैं पहली बार जब अपने कार्यक्षेत्र के एक गाँव गयी, तब सबसे पहले सुनन्दा मिली।...परिचय के बाद वह तुरन्त बोली, "चलो, हम तुमको ईश्वरलालजी के यहाँ ले चलते हैं। जो ख़ास लोग यहाँ आते हैं, सबसे पहले उन्हीं के यहाँ जाते हैं।"

मैंने पूछा, "ऐसा क्यों?"

उसने बताया, "उनके पास पैसा है, वह सरकारी नौकरी करते हैं, इसलिए।"

— संध्या की डायरी से

महिला हिंसा के खिलाफ़ एक बड़े अभियान का उद्घाटन होना था। मैं अन्दर कमरे में बैठी लिख रही थी। तभी सारे लोग गाड़ी में भरकर चले गये। अचानक एक को ख़याल आया कि पल्लवी तो वहीं छूट गयी। वह वापस आकर बोली, "मैं तो तुम्हें भूल ही गयी थी।"

ख़ैर, एक ऑटो किया गया। ऑटो में बैठते ही दो लड़कियाँ, जो सामाजिक कार्यकर्ता मानी जाती हैं, उनमें से एक बोली, "अरे मैं अपना लिपस्टिक तो ऑफिस में ही भूल आयी। लोग ऐसे ही देखेंगे तो क्या कहेंगे।" संयोग से दूसरी के पास लिपस्टिक निकल आयी, तो समस्या हल हुई।

...उस समय मेरी समझ में यह नहीं आया साथ ही मन में सवाल भी उठा कि क्या सच में यह दलितों पर होने वाले अत्याचार पर बात करने जा रही हैं?...मुझे किसी का सजना बिल्कुल नहीं अखरता पर क्या सामाजिक-बदलाव के काम में ऐसी औरतें कभी खट पाएँगी? हाँ, वह मीडिया में जरूर प्रभावशाली बनी रहेंगी। गाँव में खटने वाली हम जैसी महिलाएँ भला कहों से स्मार्ट दिखेंगी? हमें मीडिया कभी घास भला क्यों डालेगा?

— पल्लवी की डायरी से

हम जैसी कार्यकर्ताओं के लिये एनजीओ की दुनिया भी एक अजीब-सा उलझन भरा कुचक्र बनती जा रही है। एक तरफ तो हम सब समता-समानता की बातें करने में अपने आपको पहले से अधिक दक्ष, पहले से लगातार ज़्यादा निखरा और मँजा हुआ महसूस करते हैं। पर दूसरी तरफ़ हम इस सच्चाई से बिल्कुल ही मुँह नहीं मोड़ पाते कि हम तथा अन्य संस्थाओं से जुड़ी हमारे जैसी ढेरों कार्यकर्ता एनजीओ का हिस्सा बनने के साथ-साथ अपने रहन-सहन और ढंग में गाँव की दुनिया से

बराबर दूर होती जा रही हैं—एनजीओ—समाज में प्रभावशाली बनने की कोशिश में। गाँव की साधारण महिलाओं से तो यह बात हम आसानी से कह जाते हैं: “हम भी तो आपकी तरह ही गाँव की एक महिला हैं।” सच पूछा जाये तो कितना फर्क और फ़ासला बन पड़ा है उनके और हमारे बीच! हम गाँव की महिलाओं के बीच एक खास अन्दाज़ में उभरते और उभारे जाते हैं, जिसकी वजह से हमें सरकारी या गैर—सरकारी तन्त्र से जोड़कर हमारे बारे में गाँव के लोग भी बहुत सी ग़लत—सही धारणाएँ बना लेते हैं। अगर हम इस फ़ासले को मिटाकर पूरी तरह ज़मीन पर डटे रहने के लिये अड़ते हैं, तो एनजीओ की दुनिया में सफलता प्राप्त हमारे शुभचिन्तक हमें बड़े स्नेह और ईमानदारी के साथ जो सलाह दे जाते हैं, वह है—

आज के वक़्त में *संगतिन* जैसी संस्था को आगे बढ़ने के लिये आर्थिक संसाधन जुटाने हैं, तो यह उतना मायने नहीं रखता कि उसके काम में कितना दम है, बल्कि यह कि क्षेत्रीय और राष्ट्रीय एनजीओ नेटवर्क्स की बड़ी—बड़ी हस्तियों के बीच उसकी पहचान और हैसियत कैसी है?

एनजीओ के ढाँचे की बुनियाद में पैठे इस गहरे—विरोधाभास और दोहरेपन से हमारा शुरुआती—साक्षात्कार बहुत पीड़ाजनक ढंग से हुआ। शुरु के दौर में हमें यह बिल्कुल पल्ले नहीं पड़ता था कि एक ओर तो ग्रामीण महिलाओं और समाज के सामने समता और समानता की बातें दबंगई से कहने के लिये हमें अपनी संस्था से पूरी जगह और साधन मिल रहे थे। परन्तु दूसरी ओर जिन संगठनों के कार्यक्षेत्रों में हमारे किये काम की तारीफों के पुल बाँधे जाते, उन्हीं जगहों के उच्च अधिकारियों के सामने हमें गूँगा बना दिया जाता और समता—समानता के सारे नारे और बातें धरी रह जातीं! हम ज़बरन मुँह खोलने की ज़रूरत करते, तो टोका जाता कि यह बात अधिकारियों के सामने कहने की नहीं है; जबकि हमने गाँवों में काम करते हुए निष्पक्ष होकर ही अपनी बात कहना सीखा और सिखलाया भी था। ऐसा कहकर यहाँ हम ऐसा दावा नहीं कर रहे कि जो भी बातें हमने कहनी चाहीं, वह हमेशा सही बातें थीं। पर अफसोस हमें तब हुआ, जब हम वर्ग—भेद को लेकर अपनी बात कह पाने की हिम्मत ही नहीं जुटा पाये, वह भी एक ऐसे माहौल में जहाँ लोग समता—समानता की चर्चाएँ करते नहीं अघाते।

उदाहरण के लिये, हमारे बीच, बार—बार पदों से जुड़ी तनखाहों, खान—पान और यातायात से सम्बन्धित गैरबराबरी पर प्रश्न उठते रहे हैं। वैसे तो क्षेत्रीय—कार्यकर्ता को बहुत महत्वपूर्ण कहा जाता है, पर जब मानदेय की बात आती है तो सबसे छोटे पद पर काम करने वाले कार्यालयकर्मी को भी क्षेत्रीय कार्यकर्ता से ज़्यादा वेतन मिलता है। हालाँकि कुछ महिला संगठनों में शुरु से ही शिक्षा और साक्षरता को अलग—अलग करके देखा गया और औपचारिक पढ़ाई—लिखाई के साथ—साथ ज़मीनी अनुभवों को भी वरीयता दी गयी। पर मासिक आय निर्धारित करते वक़्त इस सिद्धान्त को लागू करने में दिक्कत आयी। गाँव में किशोरियों और महिलाओं को पढ़ाने वाली शिक्षिकाओं के मानदेय की बढ़ोत्तरी अधिकतर शैक्षिक—योग्यता के आधार पर हुई। यानी, आठवीं पास को कम और इण्टर पास को अधिक तनखाह मिली, भले ही आठवीं पास को इण्टर पास की बनिस्बत ज़्यादा मेहनत करनी पड़ती हो। यह कहना तो आसान रहा कि “हम पढ़े नहीं, कढ़े हैं”, परन्तु कम पढ़े—लिखे के काम को बराबरी का दरजा कहाँ मिल पाया? इसी तरह के और भी तमाम उदाहरण हैं।

जैसे संध्या लिखती है: "हमने एक छोटा-सा सवाल उठाया कि बड़ी अधिकारी ए.सी. में बैठकर जाती है और छोटी स्लीपर में। हमारे मुँह से यह बात निकलने भर की देर थी कि अधिकारियों को बुरा लगने लगा। पास बैठी गाँव की एक कार्यकर्ता ने हमारा हाथ पकड़ लिया कि ऐसी बात मत कहो।..... हमको अपने मन में यह लगा कि एक छोटी-सी बात कहने पर इन लोगों को इतना बुरा लग रहा है, तब जब हम लोग अपने काम के क्षेत्र में पुरुषों की सत्ता पर सवाल उठाते हैं और वे लोग चिल्लाते हैं कि गाँव की औरतें सिर पर चढ़ रही हैं, तब क्या ग़लत सोचते हैं?"

सवाल यह उठता है कि गाँव में संगठन से जुड़ी महिलाओं के अन्दर हिम्मत और ताक़त देने की महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाली हम कार्यकर्ताओं ने जब बड़ी हिम्मत करके अपनी बात अपने से ऊपर बैठे लोगों के सामने रखने की कोशिश की, तब लोगों ने हमारी आवाज़ क्यों नहीं सुननी चाही? शायद इसीलिए कि हम क्षेत्रीय-कार्यकर्ता की हैसियत से गाँवों में काम कर रहे हैं, और इस काम का हमें जो थोड़ा-बहुत पैसा मिल रहा है, उसी से हमारी गुज़र-बसर हो रही है। दोष केवल हमसे ऊपर बैठे लोगों का ही नहीं है। हमने भी तो अपनी ज़बानें अक्सर इसीलिए थाम लीं कि कहीं हमारी नौकरी पर कोई आँच न आ जाये।

अगर गौर करें, तो आजकल अक्सर बहुत-सी जगहों पर यह नज़ारा देखने को मिलेगा कि कोई संगठन जब किसी सार्वजनिक मंच पर बैठक करता है, तो सभी पदों के लोग बाकी आम कार्यकर्ता और गाँव के लोगों के साथ बैठते हैं। परन्तु भीतर कमरों में सभी उच्च पदाधिकारियों की कुर्सियाँ आरक्षित होती हैं। यह वे कुर्सियाँ होती हैं, जिन पर उन पदों से नीचे के कार्यकर्ता या तो बैठने में संकोच करते हैं या कभी बैठते ही नहीं। ये आरक्षित कुर्सियाँ प्रतीक हैं उस ढाँचे की, जिसमें निदेशक, अकाउण्टेण्ट और सन्देशवाहक से लेकर गाँव से जुड़ने वाली महिलाओं तक सबकी जगह पहले से ही निर्धारित होती है। हमारा यह मानना है कि जिन लोगों ने ये ढाँचे तैयार किये हैं, उन्होंने सबकी जगहें निर्धारित करने के फ़ैसले अक्सर ग्रामीण लोगों की अनुपस्थिति में और उनसे परामर्श के बिना ले लिये हैं। इसलिये गाँव में क्या करने की ज़रूरत है और हर एक के द्वारा क्या काम किया जाना है, इस पर तो जमकर सोचा गया, लेकिन न तो सीधे गाँवों में काम करने वालों की मेहनत का मूल्य आँका गया और न ही उन व्यक्तियों को ज़्यादा महत्व दिया गया, जिनके लिए हम काम कर रहे थे। नतीजा यह हुआ कि जो लोग ऊपर से फ़ैसले ले कर काम का निरीक्षण कर रहे थे, वह बराबर उन लोगों से अधिक महत्वपूर्ण बने रहे, जिनके साथ सीधे जुड़कर हम सामाजिक-बदलाव का काम कर रहे थे, तथा वस्तुतः जिन लोगों के हॉड-मॉस से यह काम सम्पन्न हो रहा था। यानी, ग़ैरसरकारी संगठन हमारे ग्रामीण-समाज में जाकर महिला-पुरुष और अन्य लोगों के बीच की बराबरियों की बातें तो करते हैं तथा उस समाज के लिए योजनाएँ बनाकर ढेरों प्रशिक्षण और कार्यशालाएँ भी करते हैं, लेकिन इतनी उत्साही बातें करने वाले ये लोग खुद अपने को ही उन कार्यकर्ताओं और आम लोगों के स्तर पर नहीं ला पाते हैं, जो कि इन संगठनों के सपनों को ज़मीन पर उतारने का काम करते हैं।

मोटी-सी बात है कि जिस माहौल में वर्ग की ग़ैरबराबरी हर चौखट और कोने में काँटों का जाल बनकर पसरी हो, वहाँ केवल अपने घरों और ग्रामीण क्षेत्रों के ग़रीब पुरुषों को अपनी लड़ाई का बिन्दु बनाकर जंग छेड़े रखना आखिर कहाँ तक सम्भव या उचित है? जैसे गरिमा अपनी डायरी में नोट

करती है: "महिला संगठनों में अक्सर गाँव की औरतों को यह कहकर खूब घुमाया फिराया जाता है कि महिलाएँ बाहर कम निकली हैं। वे बाहर निकल कर दुनिया देखेंगी, तो उनकी हिम्मत और समझ बढ़ेगी; लेकिन क्या गाँव के गरीब पुरुषों के लिये ऐसी हिम्मत और समझ का पाना ज़रूरी नहीं है?"

मतलब यह कि लिंग-भेद को बाकी सब भेदों से अलग करके तथा उसके बारे में रणनीतियाँ निर्धारित करके सिर्फ महिला-पुरुष के बीच के फ़र्कों पर बात करने से क्या समाज में बराबरी आ जाएगी? जब हम भली-भाँति जानते हैं कि लिंग-भेद के रूप को जाति और वर्ग-भेद से जोड़े बिना किसी भी परिप्रेक्ष्य में जाना ही नहीं जा सकता, तब अपनी ही संस्थाओं में वर्ग-भेद पर सवाल न उठा पाना हमारे काम को एक ऐसे जीव का आकार दे देता है, जिसके दिखाने के दाँत कोई और होते हैं और खाने के दाँत कोई और!

एनजीओ की दुनिया में यह बात भी गौरतलब है कि कहीं लिंग-भेद के सवाल पर ढेरों महिलाएँ साथ हो जाती हैं, तो कहीं जाति-भेद पर भी बड़े-बड़े समूह बन जाते हैं, किन्तु वर्ग-भेद पर सवाल उठते ही एनजीओ-समाज का अभिजात-वर्ग कुछ इस तरह हावी हो जाता है कि बहुत-सी बातें मुद्दों का रूप धरने से पहले ही हमारे हलकों में अटकी रह जाती हैं।

वर्ग-भेद के मुद्दों से हमारा आशय सिर्फ तनख्वाहों और पदों की ग़ैरबराबरी ही नहीं है। हमें अपने काम और परिवेश के लिये किससे, कब, कितनी इज़्जत, मान और जगह मिलती है और कब वह जगह हमसे वापस खींच ली जाती है; वर्ग की राजनीति से इनका भी बहुत ही करीबी ताल्लुक है। उदाहरण के लिए—गुजरात के दंगों के कुछ ही दिनों बाद की बात है। एक जानी-मानी संस्था ने *संगतिन* से पल्लवी और संध्या को अपने ग्रामीण-स्तर के कुछ संगठनों के काम का आकलन करने के लिये आमन्त्रित किया। जिस समय ये दोनों उनके कार्यालय पहुँची, उस समय इन्हें न्योता भेजने वाली महिलाएँ अहमदाबाद से आये कुछ लोगों के साथ बैठी साम्प्रदायिकता के मुद्दों पर बातचीत कर रही थीं। पल्लवी और संध्या को बाहर ही रोक दिया गया कि अन्दर कुछ लोग ज़रूरी बात कर रहे हैं!

कैसी विडम्बना है कि दंगों पर हो रही चर्चा में जगह देना तो दूर, पल्लवी और संध्या को तो इस काबिल भी नहीं समझा गया कि अहमदाबाद से आये साथियों से उनका परिचय ही करा दिया जाता!

यह तो बाहरी लोगों का उदाहरण था। मिश्रिख की ही एक घटना संध्या को नहीं भूलती।

मोहसिनपुर गाँव में होने वाले एक बुनियादी-प्रशिक्षण में पल्लवी को जाना था, लेकिन तेज़ बारिश और सड़क से गाँव के दूर होने के कारण पल्लवी वहाँ पहुँच नहीं पायी थी। पल्लवी के न पहुँच पाने की सज़ा भुगतनी पड़ी संध्या को। अपनी डायरी के पन्नों पर संध्या लिखती है: "पल्लवी को वहाँ न देखकर प्रशिक्षक का तो पारा हाई हो गया। गुस्सा उतारने को सीधे मुझ पर ही बरस पड़ीं। बहुत कुछ कहा। पुलिस वालों की तरह गाली-गलौज और मार-पीट बाकी रह गयी थी, बस। मैं सबके बीच ऐसी नज़र आ रही थी जैसे कोई मुजरिम। क्या साथ में बैठे लोग इन्हें चुप नहीं करा सकते थे? पर कुछ भी नहीं बोले। लोगों को लगा होगा कि इनसे कौन पंगा ले—कहीं नाराज़ हो गयीं तो!"

इसी तरह की एक घटना याद करके गरिमा लिखती है: "मैं इधर-उधर काम करके थोड़ा-थोड़ा कम्प्यूटर सीख गयी थी। एक बार अचानक कम्प्यूटर से फाइल गुम हो गयी। ऑफिस के सारे लोग कहे

कि गरिमा ने ही किया होगा।... मैं लाख कहूँ कि मैंने नहीं किया। फिर भी मुझ पर ही आरोप लगाया जा रहा था। कमजोरों को शायद दबंगों द्वारा ऐसे ही दबाया जाता है। दीदी चाहे जितनी समानता की बात कर लें, पर जब पूरा ढाँचा ही सीढ़ीदार बना हुआ है और कोई ऊपर है, तो कोई नीचे। तब समानता कैसे हो सकती है?

संध्या को पल्लवी के न पहुँच पाने की डाँट और गरिमा पर फाइल गुम कर देने का आरोप इसलिए लगा, क्योंकि यह दोनों ही गाँव की कार्यकर्ता थीं। उस दिन यदि कोई बड़ी अधिकारी मोहसिनपुर नहीं पहुँची होती, या फिर स्वयं संध्या और गरिमा किसी बड़े पद पर आसीन होतीं, तो क्या उनके साथ ऐसा बर्ताव होता?

कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि बराबरी की बातें सिर्फ दूर के ढोल हैं। पास आकर देखें, तब अहसास होता है कि एक अधिकारी और कार्यकर्ता के बीच नौकरशाही का लगभग वही रिश्ता है, जो मालिक और नौकर के बीच होता है। जैसे-जैसे अनुदान-दाताओं के दबाव बढ़े हैं, वैसे-वैसे प्रशिक्षिकाओं और अधिकारियों के मुँह से निकलने वाली डण्डों-जैसी धमकियाँ भी। बार-बार यही कहा जाता है कि अगर दाताओं के मन-माफ़िक परिणाम सामने नहीं ला पाये, तो उच्चाधिकारियों को हमारे ऊपर डण्डे चला कर हमसे काम करवाने के लिये मजबूर होना पड़ेगा...। जिस तरह धनी-समुदाय अपने नौकर-चाकरों से डण्डे के बलबूते पर काम कराता है और बार-बार उन्हें उनकी औकात की भी याद दिलाता रहता है, उसी तरह हमें भी हमारी औकात बार-बार याद दिलाने का ख़ासा चलन-सा चल पड़ा है। वर्ग-भेद से जुड़ी यह सारी राजनीति और यह सारा वर्ग-भेद बार-बार हमारे सीतापुर के ही विख्यात अवधी कवि पढ़ीसजी की इस मशहूर पंक्ति की याद दिला जाता है—

“उयि अउर आयिं, हम अउर आन!”¹

अगर गाँव की महिलाओं की नज़र से देखें, तो संगठनों के सीढ़ीदार ढाँचे और भी स्पष्टता से नज़र आते हैं। वैसे तो “सबकी बराबर की ज़रूरत, और सबको बराबर के मौके” का नारा अक्सर प्रयोग किया जाता है, लेकिन ज़मीनी-हकीकत कुछ और ही है।

अक्सर महिला संगठनों में एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में कार्यकर्ताओं के टूर भेजे जाते हैं, ताकि अलग-अलग अनुभवों के आदान-प्रदान से ज़्यादा बेहतर काम हो सके। ऐसे में स्थापित महिला संगठनों में काम करने वाली ऊँची अधिकारियों का आरक्षण अमूमन वातानुकूलित-श्रेणी के डब्बों में होता है, परन्तु अगर ग्राम-स्तरीय कार्यकर्ता या आम महिलाएँ संगठनों की ओर से कहीं भेजी जाती हैं, तो उन्हें सिर्फ़ दूसरी श्रेणी के लायक समझा जाता है, क्योंकि अधिकारियों की धारणा यही है कि संघ की महिलाएँ ए.सी. में जायेंगी, तो उनकी आदतें ख़राब हो जाएँगी। सवाल है कि क्या हम सबकी आदतें आराम-तलबी के इस रवैये से प्रभावित नहीं होतीं? सबसे बड़ी विडम्बना तो यही है कि जिन ग्रामीण महिलाओं के नाम पर देश-विदेश के अनुदान कोषों से चेक जारी होते हैं, उनका अधिकांश भाग उन महिलाओं के ऊपर या उनके साथ काम करने वालों के ऊपर खर्च ही नहीं हो पाता। संगठनों के ढाँचों

¹ स्रोत: पढ़ीस ग्रन्थावली (कवि एवं गद्यकार बलभद्र प्रसाद दीक्षित 'पढ़ीस' की प्रकाशित/अप्रकाशित प्राप्य सम्पूर्ण रचनाओं का संकलन), संपादक: राम विलास शर्मा एवं युक्तिभद्र दीक्षित, उ.प्र. हिन्दी संस्थान, लखनऊ, पृ. 148
Sangtin Lekhak Samooh, 2004 (Web edition 2009), *Sangtin Yatra: Saat Zindagiyan Mein Lipta Nari Vimarsh*, Chapter 6: NGOkaran ki Chunautiyan aur Sangtin ke Sapne, Page 8 of 18

में तो इतनी भी पारदर्शिता नहीं है कि उन महिलाओं को बताया जा सके कि उनके नाम पर उन्हीं के संगठनों में कितना पैसा आता है और वह कैसे और किसके ऊपर खर्च होता है।

हम महिलाओं के अन्दर यह जोश तो बड़े जोरों से भरने की कोशिश करते हैं कि सरकार से सारी सूचना लेना उनका अधिकार है, जो उन्हें लेना ही चाहिये। अगर सूचना के जनाधिकार और पारदर्शिता पर हम उन्हें घंटों उपदेश देते हैं, तो फिर जिस संगठन में हम सब काम कर रहे हैं, वहाँ कितना पैसा कहाँ से व किस काम के लिए आ रहा है—ये सारे तथ्य क्यों नहीं बाँट पाते उनके साथ? मगर कड़वी-सच्चाई तो यह है कि गाँव-स्तर की कार्यकर्ताओं को पैसे की जानकारी बहुत ही कम दी जाती है। उल्टे उनसे उन सारी सेवाओं की उम्मीद की जाती है, जो डिग्रीधारी शहरी कार्यकर्ता से करने की कोई हिम्मत करता ही नहीं।

गरिमा लिखती है: "एक बार दरख्वास्त हुई कि गाँव की कार्यकर्ताओं को मोपेड दिला दीजिए, क्योंकि क्षेत्र दूर पड़ता है। इस पर उच्चाधिकारी बोलीं कि पहुँचने में समय ज़्यादा लगता है, तो एक गाँव जाकर रात रुकें दूसरे दिन दूसरा गाँव करके वापस आएँ। गुस्सा तो बहुत आया, पर उनसे कौन बहस करता? क्या अपने शहर में वह कभी अपना घर छोड़कर रही हैं? उनके बच्चे, बच्चे हैं और हमारे नहीं? पहले हम ट्रेनिंगें-मीटिंगें करें और फिर बाकी की आधी रातें गाँवों में गुज़ारें? ये हैं बड़े-बड़े मंचों की समानताएँ।" सवाल यह नहीं है कि गाँव में रुकना क्यों ज़रूरी है? सवाल यह है कि इन संगठनों में भी ऐसी बातें क्षेत्रीय-स्तर या अधिक से अधिक ज़िला-स्तर की कार्यकर्ताओं के लिए ही कही जाती हैं, बिना इस बात पर ध्यान दिये कि इन कार्यकर्ताओं के भी परिवार हैं।

गाँव-स्तर के कार्यक्रमों के लिए मिलने वाला खाने का भत्ता भी ज़िला- और राज्य-स्तर के खाने के भत्ते से काफ़ी कम होता है। इस बात पर नाराज़गी का इज़हार करती गरिमा अपनी डायरी में टिप्पणी करती है—"गाँव के कार्यक्रमों का इतना कम बजट यही सोचकर दिया गया होगा कि 'बन्दर क्या जाने अदरक का स्वाद'। इनके लिए तो उबली दाल ही काफ़ी है।"

बात बिल्कुल साफ़ है कि ईमानदारी से काम करने का दावा हम तभी कर सकते हैं, जब आपस में कम-से-कम इस बात पर बातचीत तो कर सकें कि आख़िर इन ग़ैरबराबरी से हमारा आर्थिक-स्वार्थ या लाभ कहाँ तक जुड़ा हुआ है?

बहुत-सी संस्थाएँ इस तरह का काम कर रही हैं, जिसके नतीजे तुरन्त ठोस रूप में दिख जाते हैं—जैसे कि टीके लगवाने का काम या एच.आई.वी./एड्स के बारे में सार्वजनिक-कार्यक्रम करने का काम। ऐसी संस्थाओं में अक्सर महिलाओं को बैठकों में भाग लेने के भी सौ-पचास रुपये दे दिये जाते हैं। अगर पैसे दिये जाते हैं, तो सवाल भी बहुतेरे उठने लगते हैं कि ये पैसा देने से गाँव की महिलाओं की मानसिकता किस तरह प्रभावित होगी? इससे काम के प्रति उनके रुख़ पर क्या असर पड़ने वाला है? वग़ैरह-वग़ैरह।

हम जिस तरह के काम में लगे हैं, वह है—समाज में हाशिये पर ढकेल दी गयी औरतों की सोच में परिवर्तन लाने का काम। यह काम ही कुछ ऐसा है, जो काफ़ी अरसे तक अदृश्य-सा रहता है। इसके नतीजे अक्सर ऐसे रूपों में प्रकट होते हैं कि उनको मापा-तौला नहीं जा सकता। हम इस काम से जुड़ी गाँव की महिलाओं को उनकी मेहनत का कोई पैसा नहीं देते, पर उन्हें यहाँ जो पूरा

मान-सम्मान मिलता है, वह उसी से सन्तुष्ट रहती हैं। यहाँ विचारणीय मुद्दा यह है कि अगर ग्रामीण औरतों के सशक्तीकरण के लिये मिले किसी अनुदान का नन्हा-सा अंश उन्हीं औरतों को दिया भी जाता है, तो कार्यकर्ताओं और संगठनों के बर्ताव में अक्सर यह सोच क्यों झलकने लगती है कि गाँव की इन गरीब महिलाओं को पचास रुपयों का लोभ देंगे, तो आ ही जाएँगी। यह पैसा तो उनकी मीटिंग के दौरान छूटने वाली मजदूरी का एक हिस्सा होता है। जिस पैसे पर उन महिलाओं का अधिकार बनता है, वह उन्हें इस तरह दिया जाता है जैसे उनके साथ काम कर रहे गैरसरकारी संगठन उनका मसीहा बनकर उतरे हों! अतः पैसा दिये जाने से पहले यह निहायत ज़रूरी है कि इन महिलाओं की यह समझ बने कि उन्हें दिये जाने वाला पैसा ख़ैरात या उनकी अनमोल-मेहनत का दाम क़तई नहीं, बल्कि वह तो उन्हें पूरे सम्मान से दिया जाने वाला बहुत छोटा और वह भी प्रतीकात्मक मानदेय है।

000

संगतिन के सपने और आगे बढ़ते क़दम

इस सामूहिक-सफ़र के पहले पड़ाव में लिखी-पिरोई इस किताब के आखिरी पन्नों में हम संगतिन के उन सपनों को शब्द और स्वर देना चाहते हैं, जिन्होंने इस यात्रा के दौरान उठी चर्चाओं में पहली बार एक ठोस आकार लेना शुरू किया। इसके लिये यह ज़रूरी है कि हम कुछ देर के लिये वापस लौट चलें नाम, काम और ज्ञानोत्पादन की राजनीति के कुछ पहलुओं पर, जो हमने इस पुस्तक की भूमिका में उठाने शुरू किये थे। अपनी बात की शुरुआत हम उन तीन घटनाओं से करते हैं, जिन्होंने इस विषय पर हमारे समूह की सोच पर काफ़ी असर डाला है।

दो बरस पहले की बात है। एनजीओ के एक व्यापक नेटवर्क ने बड़े पैमाने पर एक 'महिला जन सुनवाई' का कार्यक्रम आयोजित किया। बड़ी-बड़ी बातें की गयीं। तमाम दलित और शोषित महिलाओं को दो हज़ार लोगों की भीड़ के सामने लाकर उनके साथ हुए बलात्कारों, जुल्मों, अत्याचारों की कहानियाँ उन्हीं की ज़बानी सुनी गयीं। हमें भी लगा कि ये आयोजक ऊँची पहुँच, असर, तथा रसूख रखने वाले लोग हैं। इन समस्याओं को लेकर ज़रूर यहाँ पर कुछ पक्का काम किया जायेगा। हम यहाँ पर अपनी समस्या कह दें, तो शायद हमारी बात भी ऊपर तक पहुँच जाएगी। यह भी सोचा कि जब इन लोगों की कार्यवाही हो जाएगी तो अगली बार हम भी अपनी बात कहेंगे।

कोई साल भर बाद 'जन सुनवायी' में मिली तीन औरतों से पुनः मुलाकात हुई। उनके चेहरों पर गहरी निराशा झलक रही थी। पता चला कि तीनों औरतें अभी तक इस इन्तज़ार में बैठी थीं कि अपने मसलों पर उन्हें न्यायपूर्ण-फ़ैसला सुनने को मिलेगा। जन सुनवाई का कार्यक्रम निश्चित ही बहुत सफल रहा, परन्तु जो पीड़ित महिलाएँ उस मजमे में "केस" बनकर शामिल हुईं, जिनके नाम पर इतने सारे साधन तथा मीडिया वाले जुटाये गये, वे आयोजकों की संस्था को प्रचारित करने का औज़ार मात्र बनकर रह गयीं।

इसी से मिलता-जुलता एक और अनुभव हमें हाल ही में हुआ। सीतापुर ज़िले के ही एक संगठन में कार्यरत शिक्षिकाएँ अपनी संस्था की ताज़ा छपी पत्रिका के पन्ने पलट रही थीं, तो एक लेख

में अपने ही नाम देखकर दंग रह गयीं। पढ़कर देखा तो पता चला कि उनके साथ हुए यौनिक-शोषण के किस्से, जो उन्होंने पाँच बरस पहले किशोरियों की एक कार्यशाला में गोपनीय रूप से प्रशिक्षक के साथ बाँटे थे, वह नामों के साथ लेख में दर्ज थे। उनके नाम इस्तेमाल करने की इजाजत लेना तो दूर, उन्हें यह तक नहीं बताया गया कि उनकी इन बहुत ही अन्तरंग टीसों और दृष्टिकोणों को लेकर प्रकाशन के लिये सामग्री तैयार की जा रही है! इन किशोरियों की उम्र आज अट्ठारह से बाईस वर्ष की है। इन पर लिखी गयी सामग्री यदि इनके घर वालों की नज़र से गुज़र जाये, तो उसके अंजाम न केवल इनके निजी-जीवन के लिये काफी बुरे हो सकते हैं, बल्कि यह भी मुमकिन है कि उस संगठन को कार्यकर्ता के रूप में इन्हें हमेशा के लिये खो देना पड़े। लेखक और प्रकाशक इन युवतियों की नाराज़गी यह कहकर टाल सकते हैं कि ये तथा इन लोगों के परिवार इस तरह के लेखन की अहमियत नहीं समझते। पर लेखक या संपादक मंडली की इस सरलीकृत सोच के सिलसिले में उनसे ही उलटकर पूछा जाये कि अगर इनमें से किसी की भी बेटी के साथ हुई यौनिक-छेड़छाड़ का बयान या इस सम्बन्ध में उसके द्वारा बाँटा कोई बेबाक दृष्टिकोण उस लेख में दर्ज होता, तो क्या इतना उघाड़ कर उसका ब्यौरा दिया जाता? क्या यही होती उनकी सोच?

हम यह हरगिज़ नहीं कह रहे कि इन मुद्दों को लिखित-रूप में उठा कर उन्हें चर्चा का विषय नहीं बनाना चाहिए। हम तो यह कह रहे हैं कि जिन लोगों की ज़िन्दगियों की फ़िक्र करके हम उनके लिये काम करने का दावा करते हैं, अगर काम करते समय हम उन्हीं लोगों को पूरी इज़्जत देते हुए उनके प्रति अपनी जवाबदेही बनाये रखना भूल गये, तो ऐसे काम में भला कोई दम होगा क्या? फिर ज़मीनी-स्तर पर काम करने वालों पर कोई भरोसा क्यों करेगा?

अन्तिम प्रकरण सीधे हम से ही जुड़ा हुआ है। एक बार विश्व बैंक के अनुदान से देश के तीन प्रदेशों की जानकारी बटोर कर शिक्षा पर एक तुलनात्मक-अध्ययन किया जा रहा था। जिन विदुषियों के नेतृत्व में यह काम हो रहा था वे एनजीओ की दुनिया में राष्ट्रीय-स्तर की जानी मानी हस्तियाँ हैं। उत्तर प्रदेश की केस-स्टडी के लिये सीतापुर ज़िले को चुना गया। हममें से चार औरतें अध्ययन करने वाले शोध-समूह का हिस्सा बनीं। इसके अन्तर्गत हमने अपने ज़िले में तमाम सर्वेक्षण और इण्टरव्यू किये। अपने कार्यक्षेत्र से जुड़े अनुभव व सोच-समझ को हमने शोधकर्ताओं के साथ बाँटा। बदले में हमें हवाई जहाज़ से सैर करवाई गयी, और हमारी मासिक तनखाहों से कई गुना ज़्यादा रकम हमें मेहनताने के रूप में दी गयी। हम यह कहने की स्थिति में तो नहीं हैं कि हमारा आर्थिक-रूप से कोई शोषण हुआ या नहीं, लेकिन इसमें दो राय नहीं है कि इस पूरे काम में बौद्धिक-रूप से हमें केवल कच्चा माल सप्लाई करने का साधन बना लिया गया। न तो हमें यह मौका दिया गया कि हम अपने कार्यक्षेत्र से जुड़े तथ्यों को दूसरी जगहों की तुलना में देख, समझ और जान पाते, न हमें अपनी सोच और चिन्तन बाँटने का कोई श्रेय मिला, और न ही हमें इस लायक समझा गया कि काम के ख़त्म होने के बाद जो भी उस पर लिखा या छापा गया, उसका एक नन्हा-सा टुकड़ा भी हमारे साथ बाँटा जाता। यह शोध-सम्पन्न हो जाने के महीनों बाद एक दिन की बात है—अंग्रेज़ी के एक अख़बार में उसी काम पर आधारित एक बड़ा-सा लेख हमारी नज़र के सामने आया। तब जाकर मालूम हुआ कि इस काम में दिये गये हमारे वास्तविक योगदान का तो दूर-दूर तक ज़रा-सा भी ज़िक्र नहीं है!

कहानी यहीं खत्म हुई होती, तो टिप्पणी करने की उतनी ज़रूरत नहीं रहती।

लेख छपने के कुछ ही महीनों बाद हमें एक झटका और लगा। इन्हीं शोधकर्ताओं की तुलनात्मक अध्ययन-प्रक्रिया से हम जैसी ज़िला व ग्रामस्तरीय कार्यकर्ता कुछ सीख सकें इसके लिये राज्य स्तर की एक ख़ास बैठक में इन्हें एक प्रस्तुतिकरण के लिये निमन्त्रित किया गया। हम पर दया करके उस प्रस्तुति के मुख्य बिन्दु आम ज़बान में तो हमें बता दिये गये, लेकिन उस पूरे भाषण में अंग्रेज़ी में कौन-से दावे पेश किये गये? यह हम क़तई नहीं समझ पाये। और भी बड़ा धक्का तब लगा, जब प्रस्तुति में हमारे ज़मीनी-काम को दूसरे प्रदेशों में हो रहे काम की अपेक्षा 'अधिक कमज़ोर' और 'ख़ासा कच्चा' कहा गया—इस आधार पर कि जिन गाँवों में हम सर्वेक्षण करने गये, वहाँ के बच्चे गन्दे थे, या स्कूल नहीं जाते थे! हमें अहसास दिलाया गया कि हमारे काम से विदेशी दाता एजेन्सियों को कितनी शर्मिन्दगी महसूस होगी! खून के घूँट पीकर रह गये हम। अपने काम और ईमान की बेइज़्जती होती देखकर तो हमारा दिल जला ही, साथ ही मन में यह सवाल भी उठा कि गाँव वालों की पीठ-पीछे उन्हें जब-तब 'बेवकूफ़' और 'जाहिल' जैसी उपमाओं से सम्बोधित करने वाले तथा अपने को न जाने क्या समझने वाले ये धुरन्धर क्या उन ग्रामीणों के गन्दे और स्कूल न पहुँच पाने वाले बच्चों से सचमुच प्यार करते हैं? करते होते, तो हमारे काम को ख़राब कहने से पहले हमसे कम-से-कम एक बार पूछ तो लेते कि यह बच्चे किन सामाजिक और आर्थिक प्रक्रियाओं की वजह से उठ नहीं पा रहे? या, सार्वजनिक-रूप से हमारी दुर्गत करने से पहले हमें इतना तो बता दिया होता कि जो काम हमसे शोध-सहायिकाओं के रूप में लिया जा रहा है, उसी के बल पर किसी और बड़े मंच पर हमारी मेहनत को माप-तौल कर उसका मख़ौल भी उड़ाया जायेगा!

हालाँकि इन तीन घटनाओं में अलग-अलग लोग और संस्थाएँ शामिल हैं, पर हमारे हिसाब से यह तीनों एक ही सूत्र में जुड़ती हैं। हमें बड़ी ही शिद्दत के साथ यह महसूस होता है कि आज की दुनिया में जहाँ ज्ञान और विचारों के उत्पादन की होड़ लगी है वहाँ हमारा काम, सोच, और मेहनत ही नहीं, बल्कि हमारे निहायत निजी दुख-दर्द भी सिर्फ़ हमसे अधिक पढ़े-लिखे, समृद्ध, और प्रतिष्ठित लोगों के हाथों में उनका काम और नाम बढ़ाने के लिये औज़ार या फिर खिलौना बन कर रह जाते हैं। 'जन-सुनवाई' के आयोजक और यौनिक-छेड़छाड़ पर लेख छापने वाले लेखक व संपादक यह मानकर दिल भले ही बहला लें कि इन औरतों और किशोरियों की कहानियाँ सुनाकर उन्होंने अपने दर्शकों और पाठकों की जानकारी बढ़ायी है, लेकिन सही मायनों में देखा जाये तो ये महिलाएँ औरों के लिये नुमाइश या मख़ौल की वस्तु भर बनकर रह गयीं। जिन संस्थाओं और व्यक्तियों ने उनकी व्यथा को भुनाकर उनके साथ काम करने का श्रेय लूटा, उनको तो इस प्रचार-प्रसार से लाभ हुआ। पर जिन उम्मीदों और जिस यकीन के साथ उन औरतों ने अपने जिस्मों और आत्माओं पर पड़े घावों के निशान खोल कर रख दिये, क्या उस विश्वास की कद्र हो पायी?

इस विश्वासघात को क्या कहा जाये?

ग्राम-स्तर पर काम करने वाली कार्यकर्ताओं की हैसियत से हमें एक ओर तो यह लगता है कि अनजाने में हम ही कभी-कभी इन औरतों के शोषण का माध्यम बन जाते हैं, लेकिन दूसरी ओर हम यह देखकर स्वयं को शोषित भी महसूस करते हैं कि किस तरह हमसे ऊपर बैठे लोग हमें बिना कोई

श्रेय दिये हमारी सोच, समझ और काम का बहुत ही सहजता से फायदा उठा ले जाते हैं। इसे ही अवधी में कहते हैं—'आन के धन पै लच्छमी नरायन!'²

एनजीओ—जगत के ऊपरी तबके के पास बेशक हमसे ऊँची शिक्षा है, अंग्रेज़ी का ज्ञान है, और मान लेते हैं कि कुछ मायनों में हमसे भी अधिक व्यापक—दृष्टिकोण है। पर जब हम रात—दिन की मेहनत से जुटाये अपने काम से जुड़े अनुभव और विचार उनके साथ बेहिचक बाँट ले जाते हैं, तो आदान—प्रदान, सहभागिता, और सामूहिकता जैसे सिद्धान्त दूसरी ओर से करनी में परिवर्तित होते दिखाई क्यों नहीं देते?

इन्हीं उलझनों, अपमानों, और दोहरेपन से उपजे विरोधाभासों के बीच जब—जब हमारा समूह *संगतिन* के भविष्य की परिकल्पना करने के लिये बैठा, तो चर्चा बार—बार संस्थागत पदों और तनख्वाहों की गैरबराबरी पर केन्द्रित हो गयी। बार—बार यही प्रश्न उभरता कि क्या यह सम्भव है कि एक ही संगठन में पद, पैसा, काम, मेहनत, और मान—सम्मान सभी बराबरी से बाँटे जा सकें? जब गाँव की महिलाओं को हम नारीवादी—सोच से परिचित कराते हैं, तब कहते हैं कि जो औरत घर के बाहर काम नहीं करती, उसके काम का भी मूल्य उसी तरह आँकना चाहिये जैसे तनख्वाह पाने वाले आदमी या पढ़े—लिखे नौकरी—पेशा समाज के सदस्यों का आँका जाता है। क्यों हम एक महिला—संगठन के मामले में यह नहीं कह सकते कि ब्लॉक स्तर पर काम करने वाली कार्यकर्ता का काम, जो कम शिक्षा के बावजूद दलित वर्गों में जाकर स्त्रियों को जागरूक कर रही है और उनकी मदद के लिए खड़ी हो रही है, उतना ही मायने रखता है जितना कि ज़िला स्तर पर काम करने वाली उस अधिकारी का, जो संस्था के लिए पैसा जुटाती और ब्लॉक स्तर पर होने वाले काम को समन्वित करती है? यह क्यों नहीं हो सकता है कि सारी महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारियाँ किसी एक पर न लादकर इस तरह बाँटी जायें कि काम की छोटाई—बड़ाई के सवाल कभी उठे ही नहीं? हमें लगता है कि इन सारे सवालों से जूझ पाने के लिये जरूरी है कि हम अपना संस्थागत ढाँचा ही अलग ढंग से बनाएँ। जो ढाँचा स्तरीकरण के आधार पर रचा जायेगा उसमें से गैरबराबरी को अलग करना असम्भव साबित होगा। उदाहरण के लिए—आज ऋचा सिंह संचालक हैं। पर, अगर कल गरिमा संचालक बन जायें तो क्या उन सुविधाओं का लाभ उठाने से इन्कार कर पायेंगी, जो ऋचा उठा रही हैं? परन्तु ऋचा सिंह और गरिमा को यदि पहले ही बराबरी से तनख्वाहें, सुविधाएँ और मान—सम्मान मिले हों, तो फिर सुविधाओं का फायदा उठाने या इन सुविधाओं और फायदों के कम—ज़्यादा होने के प्रश्न ही क्यों उठें!

दूसरा बड़ा सवाल जो हमारे सामने मुँह बाये खड़ा है, वह यह है कि *संगतिन* किस तरह का काम करे, और किस तरह के काम से दूर रहे? हमारी चर्चाओं में बार—बार यह बात उठी कि काम ऐसा हो, जिससे रोज़ी—रोटी भी चले और आन्दोलन खड़ा करने का काम भी न रुके। हम उन लोगों की बहुत इज़्ज़त करते हैं, जिनका यह मानना है कि एक एनजीओ और एक आन्दोलन के उद्देश्यों का आपस में मिल पाना बहुत कठिन है। दरअसल जब कोई समूह अपनी रोज़ी—रोटी चलाने के लिये बाहरी अनुदान पर निर्भर हो जाता है, तब वही निर्भरता सारी गैरबराबरी की जड़ बन जाती है। सवाल वही पुराना है कि जब तक हमारे हाथों में सामान्य सुविधाएँ जुटाने के लिये भी पैसा नहीं होगा, तो कैसे

² यानी, दूसरों की सम्पत्ति पर कब्जेदारी जमाकर सम्पत्तिशाली कहलाना।

करेंगे आन्दोलन? कोई दाता एजेन्सी आन्दोलन चलाने के लिये पैसे भी तो नहीं देती! यह सच है कि कुछ लोग पैसा और यश बटोरने के लिये गाँवों में काम करते हैं और कुछ लोग क्रान्तिकारी-बदलाव लाने के काम को जमाने तथा पुख्ता करने के लिये पैसा जुटाते हैं। अगर हम यह फर्क हमेशा ध्यान में रखकर अपने काम की शर्तों और ज़रूरतों पर डटे रहें, तब क्या एनजीओ के ढाँचे में रहते हुए भी काम करने की नयी सम्भावनाएँ बनायी नहीं जा सकती हैं?

नयी सम्भावनाओं को बना सकने के लिए यह ज़रूरी है कि बाहरी फण्डिंग पर हम कम से कम निर्भर होकर इस तरह के कामों का बीड़ा उठायें, जिनसे कार्यकर्ताओं के लिए कुछ-न-कुछ रोज़गार तो बना ही रहे, साथ में उनका यह आत्मविश्वास कभी न टूटे कि ज़रूरत पड़ने पर अपने काम के लिये वे पर्याप्त संसाधन जुटा सकेंगी। आज की तारीख में *संगतिन* के पास ऐसा कोई आर्थिक-स्रोत नहीं है, जिसके आधार पर अगले तीन से पाँच वर्षों के लिये हम कोई योजना बनाकर काम कर सकें। आर्थिक-रूप से अपने पाँवों पर खड़े होने की कोशिश करती हमारी छोटी-सी संस्था को मित्रों और शुभचिंतकों से तरह-तरह की सलाहें मिलती हैं—कोई हमें एड्स पर केन्द्रित किसी बड़े प्रोजेक्ट का हिस्सा बनने को कहता है, तो कोई मानवाधिकार पर; लेकिन हमारा यह मानना है कि काम हम उन्हीं मुद्दों पर करेंगे, जो हमारे ऊपर किसी फण्डिंग एजेन्सी द्वारा लादे जाने के बजाय हमारे क्षेत्र की ज़मीन से उठेंगे। साथ ही अपने काम की सफलता और असफलता को आँकने के माप-दण्ड हम उन्हीं लोगों के साथ मिलकर तय करेंगे, जिनके बीच हमारा काम है। हमारा यह अनुभव रहा है कि जो मुद्दा क्षेत्र से उठता है, उसे दबाना असम्भव है। ऐसे ही मुद्दों से जुड़कर आन्दोलन आगे बढ़ता है। यदि क्षेत्रीय मुद्दों को आगे बढ़ाना हमारे मुख्य उद्देश्यों में से है, तो अपना संगठनात्मक ढाँचा भी उन्हीं मुद्दों के हिसाब से बनाना होगा, दूर बैठी संस्थाओं की नक़ल करके नहीं। हमारी ख्वाहिश है कि हम मज़दूर-किसान शक्ति संगठन, अकाल संघर्ष समिति, और उत्तराखण्ड महिला मंच जैसे जुझारू संगठनों के काम और संघर्षों को गहराई से जान-समझ कर, उनसे सीखते और प्रेरणा लेते हुए आगे की अपनी दिशा और लक्ष्यों को तय करते चलें।

हमारी तीसरी प्रतिबद्धता पारदर्शिता के प्रति है। देश-विदेश की चमकदार रंगीन पत्रिकाओं में जब हम अपने ही जैसे परिवेश की देहाती औरतों की तस्वीरें देखते हैं, तो मन में विचार आता है कि दुनिया की सरकारों और मीडिया के पास क्या हमारी ग़रीबी, फटेहाली, और रोते हुए नंगे दुबले बच्चों को दिखाने के अलावा कोई दूसरी छवि ही नहीं है? क्या ग़रीबों के नाम पर इसी तरह की छवियों के दम पर हमारे देश की सरकार और संस्थाएँ विदेश से पैसा लाती हैं? पर अगर हमारे माहौल और ग़रीबी का मज़ाक बनाकर हमारे ही विकास और सशक्तीकरण के नाम पर करोड़ों रुपये लाये जाते हैं, तो हम ही तक यह जानकारी क्यों नहीं पहुँचती कि हमारे नाम पर कितना पैसा जुटाया गया और उसको किस काम में, किसके ऊपर, कब और कैसे खर्च किया गया? हम अच्छी तरह जानते हैं कि इस बात को कहना जितना आसान है, इसे असलियत में लागू कर पाना उतना ही कठिन। समूह के अन्दर तो पारदर्शिता सहजता से बनायी जा सकती है, पर गाँव की महिलाओं को कैसे बतायेंगे हज़ारों-लाखों का हिसाब-किताब? लेकिन क्या इसीलिए हमसे ऊपर बैठे लोग हमारे बारे में सोच लेते हैं कि हम क्या

समझेंगे मोटी-मोटी रकमों का लेखा-जोखा? हमारी तो आँखें ही इस कदर चौंधिया जायेंगी कि पहले की तरह दोबारा देखते नहीं बनेगा...!

हम चाहते हैं कि इस चुनौती को इस तरह गले लगायें कि *संगतिन* के काम में हमेशा पैसे को लेकर पारदर्शिता बनी रहे। यह तभी सम्भव है जब हमारे माप-दण्डों में हमेशा ऐसे नियम-कायदे सर्वोपरि होंगे, जो हमें बराबर अपने गाँवों की आम जनता को पूरी इज़्जत देते हुए उनके प्रति पूरी जवाबदेही बनाये रखने के लिये बाध्य करते रहेंगे।

एक चौथा मुद्दा सीधे ज्ञान तथा विचारों के उत्पादन की राजनीति से जुड़ा हुआ है। यह हमारे काम से लगी वह कड़ी है, जो अदृश्य-सी रहते हुए भी बहुत अहम है और जिसको अपने काम से जोड़ पाना हमारे लिये सबसे कठिन और चुनौतीपूर्ण रहा। इसी समझ को बनाने की एक नन्हीं-सी शुरुआत हमने इस सामूहिक-प्रक्रिया के मँझले चरण में की; यानी—निजी डायरी लेखन को बाँट कर बातचीत करने के बाद और पुस्तक का काम शुरू करने से पहले।

इस शुरुआत के लिए हमने अगस्त, 2003 में पाँच दिन ऐसे निकाले, जब अपने सात बरसों के गम्भीर काम को एक बड़े परिप्रेक्ष्य में जानने-समझने और अन्तर्राष्ट्रीय मुद्दों पर अपनी समझ को विस्तार देने की कोशिश की। ऋचा नागर की भागीदारी की वजह से ऐसे कई सामाजिक और राजनैतिक प्रश्न हमारी चर्चा का केन्द्र बने, जिन पर हमें पहले कभी बातचीत करने का मौका नहीं मिला था। मिसाल के तौर पर हममें से कई लोग यह जानना चाहते थे कि ईराक़ पर जो अमरीकी आक्रमण हुआ, उसकी राजनीति में तेल, साम्राज्यवाद, और बहुराष्ट्रीय कारख़ाने कैसे जुड़ते हैं? फिर इसी चर्चा में दूसरे कठिन प्रश्न भी उभरते गये, जैसे—इज़राइल और फिलस्तीन का रिश्ता अमरीकी राजनीति के लिये क्यों मायने रखता है? अमरीका में रंग-भेद को लेकर किस प्रकार के मुद्दे उठते रहे हैं, और क्यों? इन विषयों से जब अपनी डायरी चर्चा में उठे सवालों को जोड़ा तो बातचीत दूसरे दायरों में भी फैलती गई। जैसे, विकास और पूँजीवाद की राजनीति में एनजीओ जैसी संस्था का आगमन कब हुआ और इनका स्वरूप किस तरह बदला? दक्षिण अफ़्रीका और तीसरी दुनिया के अन्य देशों में आज समलैंगिक लोगों के संघर्ष किस तरह से वर्ग, रंग और संसाधनों पर जमे अधिकारों के इर्द-गिर्द परिभाषित लड़ाइयों से जोड़े जा रहे हैं?...इसी तरह के दसियों सवाल।

इन चर्चाओं को जब हमने अपने अनुभवों से जोड़ा, तो लगा कि ग्राम-स्तर की कार्यकर्ता के काम का दायरा हर मायने में कितना सीमित बना दिया जाता है। अपने काम के सन्दर्भ में हमें ऐसे मौके नहीं दिये जाते हैं कि हमारे गाँवों में जो हो रहा है, उसे हम अन्य प्रदेशों और देशों की स्थिति एवं संघर्षों के साथ जोड़ सकें। इसी तरह हम खुद को इतना सक्षम नहीं बना पाते हैं कि दलित और ग़रीब औरतों के खिलाफ़ हो रही हिंसा को दूसरी हिंसाओं से पूरी तरह जोड़ कर अपने उद्देश्य और अपनी रणनीतियाँ तय कर सकें।

हमारा दस्तावेज़ीकरण अनुदान-दाताओं के मन-माफ़िक़ निखर कर आये इसके लिये तो नित नई कार्यशालाएँ आयोजित होती हैं। परन्तु ऋचा नागर के साथ हुई हमारी लम्बी चर्चाओं ने हमें यह सोचने को बाध्य किया कि हमें कितनी कम जगहें व साधन मिलते हैं उन सामाजिक और राजनैतिक मसलों से जूझने के लिए जो आये दिन अकादमिक सेमिनारों और राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय सुर्खियों में

चर्चा का विषय बनते हैं। जैसे भूमण्डलीकरण और विश्व व्यापार संगठन (वर्ल्ड ट्रेड ऑर्गनाइज़ेशन) की नीतियाँ, हमारे देश में किसानों की बढ़ती हुई आत्महत्याओं की खबरें, या पानी का निजीकरण। परिणामस्वरूप हमारी अपनी सोच इन विषयों पर बेहद सीमित रह जाती है और हम यह जान ही नहीं पाते कि इन सब सामाजिक और राजनैतिक प्रक्रियाओं का हमारे गाँवों की महिलाओं के शरीरों और मनो पर होने वाली हिंसा से क्या रिश्ता है? अपनी इन्ही सीमाओं के कारण हमारे ऊपर अध्ययन करने का काम प्रतिष्ठित कहे जाने वाले दूसरे विद्वान करके चले जाते हैं। पर उनके मूल्यांकन की कमियाँ या गैरज़िम्मेदाराना तेवर दिखलाने के लिये हमारे पास उचित लफ़्ज़ भी नहीं होते।

संगतिन समूह में हम लोगों ने यह इरादा बनाया है कि हम महिलाओं के शरीर पर होने वाली हिंसा को दूसरी हिंसाओं के साथ पिरोकर गहराई से चिन्तन करेंगे और उस जानकारी को अपने ग्रामीण-समाज के लोगों के साथ मिलकर बढ़ायेंगे। इसी कोशिश के तहत हमने कुछ मुद्दों को शुरुआती-सूची की तरह यहाँ लिया है। इन पर चर्चाओं और कार्यशालाओं के आयोजन, पठन-पाठन तथा फिल्मों के प्रदर्शन-अवलोकन के ज़रिये पक्की-समझ बनाकर संगतिन-समूह दलित और शोषित समुदायों के हकों के लिये लड़ना चाहता है।

सोच की इन धाराओं को आगे बढ़ाने के सिलसिले में यों तो बहुत सारे मुद्दे उभर रहे हैं। इन सबकी सूची बना पाना मुमकिन नहीं है। सामूहिक रूप से अगर हम मुद्दों को कोई तरतीब दे भी लें, तो किस मुद्दे पर कब-कैसे काम करेंगे? फ़िलहाल तो हमें लगता है कि कुछ विषय हमारे लिये ज़रूरी जिम्मेदारियों जैसी अहमियत रखते हैं।

बतौर मिसाल, ध्रुवीकरण और तथाकथित-विकास की प्रक्रियाओं के ज़रिये ग़रीब-तबके से संसाधनों के निरन्तर खींचे जाने को ही लेते हैं। संसाधनों तथा ग़रीब-वर्ग के बीच की नियति अक्सर 'ऊँट के मुँह में जीरा' जैसी साफ़-साफ़ दिखायी पड़ती है। साधनहीनता की स्थितियों में जीते-मरते लोगों तक जो कुछ न्यूनतम पहुँचना चाहिये, अनेक स्तरों से गुज़रते हुए नीचे तक आते-आते वही संसाधन अन्ततः क्यों और कैसे बँटते-छीजते जाते हैं? इसी तरह एनजीओकरण में व्याप्त वर्गवाद की राजनीति से विकास और भूमण्डलीकरण का रिश्ता भी हम लोगों को सक्रियता के लिये बाध्य करता है कि गुत्थी-सरीखी इनकी परतों का खुलासा करें। दूर-दराज़ के गाँवों में साँस लेता इन्सान भी तो आख़िर खुद के लिये यह तय कर सके कि क्यों, कैसे और किसके लिये 'पूरी दुनिया एक गाँव' जैसी बना दी गयी है और कौन से वे लोग हैं, जिनके लिये पूरी दुनिया अब भी उनके गाँवों, क़स्बों या ज़िलों में ही सिमटी हुई है? दो तरह की यह दुनिया किन ग़ैरबराबरियों और सामाजिक हिंसाओं की तरफ़ इशारा करती है?

हिंसा के उस चेहरे की तरफ़ भी गौर कर लें जिसने हमारे देश की रूह को कँपा कर रख दिया है। 'बाबरी मस्जिद-राम जन्मभूमि' विवाद का अन्त अगर मस्जिद के आकार की चार सौ साल पुरानी इमारत के ढहाने से देशव्यापी-साम्प्रदायिक दंगे की शक्ल अख़्तियार कर लेता है और—कोई दसैक साल बाद रेल के डिब्बे के भीतर घटी घटना गुजरात के नर-संहार में बदल जाती है, तो ऐसे दुर्भाग्य और विडम्बना के प्रति समझदारी व सजगता विकसित करना भी हमारे काम तथा दायित्व का ज़रूरी हिस्सा बने। तभी लोगों की समझ में आ सकेगा कि मंदिर-मस्जिद विवाद और गुजरात

नर-संहार जैसे मुद्दे हमारे ज़िले से लेकर गाँवों तक की साम्प्रदायिक-राजनीति से अपना नाता कैसे जोड़ लेते हैं? इसके लिये साम्प्रदायिकता की बाबत एतिहासिक-समझ बनाना ज़रूरी है। हम अपने हिन्दुस्तान के 1947 में हुए बँटवारे को ही देखें। तब हिन्दुस्तान से अलग पाकिस्तान एक मुल्क बना, और फिर उससे भी कट कर वजूद में आया, बाँग्लादेश। इन सबकी पृष्ठभूमि जाने और इसके पूरे इतिहास को समझे बिना भारत-पाक विभाजन और आज की साम्प्रदायिक-राजनीति की सही पकड़ मला कैसे आयेगी? सवाल यह भी है कि गाँवों की मामूली औरतों और मर्दों को भी इस सबकी साफ़-साफ़ समझ क्यों न हो? हमें लगता है कि इस तरह की समझ पैदा करने में हमारी भूमिका अवश्य होनी चाहिये।

इसी के साथ अपनी निजी कहानियों का अवलोकन करते समय हमें बार-बार ज़रूरत महसूस हुई कि हम जाति-व्यवस्था के इतिहास और स्वतन्त्र भारत में जातिवाद के खिलाफ़ उभरे आन्दोलनों के बारे में अपनी समझ को पैना करें। और यह भी लगा कि यदि इस सारी समझ तथा चिन्तन को बढ़ाने के पीछे हमारा मुख्य उद्देश्य ग़रीब व ग्रामीण औरतों की ज़िन्दगियों से जुड़कर ठोस व अर्थपूर्ण काम करना है, तो इसके लिये हमें नारीवाद का इतिहास और महिलाओं से सम्बन्धित चिन्तन-लेखन और आन्दोलनों के तहत समय-समय पर उभरी जाति, वर्ग, रंग, कौम आदि की बहसों से भी अपना परिचय प्रगाढ़ करना होगा। तभी तो हम जमीनी-काम के साथ-साथ ज्ञानोत्पादन की राजनीति में भी बराबर हस्तक्षेप करते रहने का हौसला हासिल कर पायेंगे।

000

और अन्त में...

दिसम्बर 2002 में पूस की गुनगुनी धूप में नौ लेखनियों ने जब कागज़ों पर अपनी नोक से पहली बार नये अलफ़ाज़ उतारने और उन्हें इबारत में बदलने शुरू किये थे, तब हमारी आँखों में नमी थी, और दिलों में एक दर्द व बेचैनी...। कभी सोचा भी नहीं था कि अपनी अम्माओं, बाबुओं और दादियों के आँसू, डॉट, और मार को याद करते-समझते हम एक दिन रोज़ी-रोटी और आन्दोलन के बीच भेद भी करने लगेंगे। पर हम आज यह अच्छी तरह जानते हैं कि अपने निजी जीवन की दास्तानों को आजू-बाजू रखकर नयी नज़रों से देखने के बाद ही हम उस मुक़ाम पर पहुँच पाये, जहाँ से अपने कार्यक्षेत्र में व्यापी ग़ैरबराबरी का ईमानदारी से अवलोकन कर पाना मुमकिन हो रहा है।

यानी, अगर हम यह सामूहिक-समझ नहीं बना पाते कि गरिमा और राधा के बचपन की भूख में क्या फ़र्क़ है, तो शायद यह भी नहीं देख पाते कि दलित और शोषित महिलाओं के अधिकारों हेतु काम करने वाले हमारे ही संगठनों की कुल बाग़डोर किस तरह सवर्णों के हाथों में पहुँच जाती है? और अगर छुआछूत तथा परदे को लेकर अपने ही दिलों और घरों में बिराजे दोहरेपन से हम न जूझे होते, तो कहाँ से लाते एनजीओ-जगत की दिग्गज-हस्तियों और अध्येताओं के काम में पैठे दोहरेपन पर सवाल उठाने की नज़र और जज़बा?

लेखनी से आँसुओं तक की हमारी मज़बूत-हिस्सेदारी ही हमारी ताकत बनकर हमें आज आँसुओं से सपनों तक खींच लायी है। इन सपनों में नये आकार और नये रंगों के साथ अगर नयी उमंगें समायी हुई हैं, तो नये उलझाव, खतरे और डर भी हैं, इसका हमें अहसास है।

और यह भी कि सृजन के हमारे इस सफ़र ने हमें एक बन्द मुट्टी तो बना ही दिया है।

उम्मीद यही है कि यह मुट्टी लगातार अधिक मज़बूत होती जायेगी तथा हमें अपनी जैसी और-और मुट्टियों का साथ और बल-सम्बल मिलता चलेगा। तभी तो हम एक ऐसी दुनिया रच सकेंगे, जहाँ हमारे जैसे छोटे-छोटे समूह भी आम लोगों के साथ मिलजुल कर उनकी खुशहाली के लिये बड़े-बड़े सपने देखने का हौसला रखते हों—अपनी ही शर्तों पर..., अपने ही चिन्तन के बूते..., और अपनी ही ज़बान में!